# पेपरचोर

वरुण ग्रोवर

बम्बई में रहते हुए अब मुझे छह साल हो गए हैं लेकिन तब मैं शहर में नया था। एक कमरे के एक फ्लैट (उसकी छुटंकता को ज़ाहिर करने के लिए यहाँ उसे "खोली" कहते हैं) में रहता था।

चित्र : अतनु राय

लेखक बनने आया था। पैसे की भी थोड़ी तंगी लगी रहती थी। मुझे बचपन से अखबार पढ़ने का बहुत शौक रहा है। खबर खेल की हो, राजनीति की, फिल्मों की, या दूर देश की अजीबो-गरीब रीतों की – हर सुबह अखबार "चाटना" मेरे जीवन का एक हिस्सा बन चुका है। तो बम्बई में भी, आदत के चलते, दो अखबार लगा लिए थे। एक गम्भीर खबरों वाला राष्ट्रीय दैनिक और एक मसालेदार खबरों वाला लोकल पत्र *मिड डे* जिसे टेब्लॉएड कहते हैं (उसके छोटे आकार की वजह उसे यह नाम मिला। लेकिन दुनिया भर में अब टेब्लॉएड का मतलब है रंगीन तस्वीरों के साथ अधकचरी, मसालेदार खबरें छापने वाला अखबार।)।

रोज़ सुबह करीबन छह बजे अखबार आ जाता था। मेरी खोली दूसरे माले पर थी और अखबारवाला दोनों अखबारें मोड़कर बाहर की कुण्डी में फँसा जाता था। मैं करीब सात साढ़े-सात बजे उठता और आधी नींद में चलता हुआ दरवाज़ा खोलकर अखबार निकाल लेता। एक तरह से यह रोज़ का नियम बन गया था। अखबार से मुझे सुबह ठीक वक्त पर उठने का उत्साह भी मिलता था। लेकिन एक दिन कुछ अजीब हुआ।

मैंने नींद में अखबार की तरफ हाथ बढ़ाया तो अखबार वहाँ नहीं था। देखने पर पता चला कि वह नीचे ज़मीन पर गिरा पड़ा है। अन्दर लाया तो देखा कि केवल एक ही अखबार है – राष्ट्रीय दैनिक। मसालेदार खबर वाला *मिड-डे* गायब था। क्या कोई निकाल के ले गया? ऐसा पहली बार हुआ था इसलिए मैं परेशान तो नहीं हुआ लेकिन बुरा ज़रूर लगा। एक अखबार के बिना सुबह थोड़ी अधूरी-सी होने वाली थी। उस वक्त मुझे क्या पता था कि यह तो सिर्फ शुरुआत भर है। अगले एक हफ्ते में तीन और बार ऐसा हुआ – गम्भीर दैनिक ज़मीन पर और मसालेदार गायब।

अपने छोटे-से कमरे में मैं जहाँ ज़मीन पर सोता था वह जगह दरवाज़े के एकदम बगल में है। मेरे माले पर तीन खोलियाँ और हैं जिनमें अच्छे-खासे परिवार रहते हैं। और जिनके बुज़ुर्ग और बच्चे सवेरे-सवेरे उठकर खटर-पटर शुरू कर देते हैं। ऐसे में अखबार के आने के आधे घण्टे में ही गायब हो जाना बड़ा अजीब है। मेरा सबसे पहला शक तो अपने माले के लोगों पर ही गया। इसलिए चलते-फिरते उनमें से जो भी कहीं मिला उसे एक बार सुना ज़रूर दिया। लेकिन कोई फर्क नहीं पड़ा। अगले दो हफ्तों में फिर पाँच-छह बार *मिड-डे* नदारद था। इस बीच मैंने जल्दी उठकर पहरा देने की भी कोशिश की लेकिन कोई फायदा नहीं हुआ। जिस दिन मैं जल्दी उठता, उस दिन चोर नहीं आता। दूसरी अजीब बात यह थी कि सिर्फ एक ही अखबार गायब हो रहा था। जबकि चुराने में आसानी के हिसाब से तो दोनों अखबार निकालना आसान था। लेकिन नहीं। चोर साहब सिर्फ वही ले जा रहे थे जिसकी उन्हें ज़रूरत थी, और दूसरा अखबार बड़ी इज़्ज़त से,

## तुम भी बनाओ



मोड़कर, ज़मीन पर रख भी रहे थे।

मैं समझ गया कि मेरा पाला किसी सनकी पेपर चोर से पड़ा है। सिर्फ दो रुपए के अखबार के लिए जितना जोखिम लिया जा रहा है और जितनी शान्ति और सफाई से अखबार गायब हो रहे हैं उससे तो यही लगता था। अब तक तो मेरे आस-पास और ऊपर-नीचे रहने वाले बहुत से लोगों को मामला पता लग चुका था। और सब के सब, जिस तरह मुझे सांत्वना दे रहे थे उससे तो यही लगता कि सब मेरे साथ थे। मेरे ठीक ऊपर रहने वाले शिंदे साब ने तो 2-3 बार घण्टी बजाकर मुझे जगाकर कहा, "देखो तुम्हारा अखबार आ गया है। अन्दर कर लो वरना गायब हो जाएगा।" यही काम कुछ दिन मेरे अखबारवाले ने भी किया जो अब अखबार को दरवाज़े में लगाते ही घण्टी बजा देता था। पर मुझे इससे दिक्कत होने लगी। एक तो यह मेरी हार के जैसा था। न चोर का पता लगा, न ही उसे धरा गया। उसके चक्कर में हमने अपनी नींद और खराब कर ली। इसलिए मैंने अखबारवाले को घण्टी बजाने से मना कर दिया।

इस बीच कुछ दिन चोरी बन्द भी हो गई। लगा कि चोर को मुझ पर दया आ गई या कोई और घर मिल गया या *मिड डे* से बोर हो गया। लेकिन दो-तीन हफ्ते बाद सिलसिला फिर शुरू! और इस बार तो हर रोज़। एक बार तो पूरे एक हफ्ते तक डेली अखबार गायब हुआ। और, एक दिन तो मेरे पहरा देने के बावजूद भी। मैं चुपचाप दरवाज़े की बगल में बैठा किसी आहट का इन्तज़ार करता रहा और अखबार गायब। यह बहुत ही बौखला देने वाली बात थी। ऐसा लगा कि चोर ने सीधा चैलेंज ले लिया है। उस दिन की चोरी में मुझे एक पागलपन दिखा क्योंकि दूसरा अखबार ज़मीन पर पड़े रहने की बजाए करीने से मुड़ा हुआ कुण्डी में फँसा था। ऐसा लगा कि जैसे चोर को मालूम था कि मैं दरवाज़े के उस पार बैठा था, और आज उसे मुझे बता देना था कि यह दुनिया किसकी है।

इसके बाद मुझे एक अजीब-सा ख्याल आया। लगा, जैसे चोर मुझसे बात कर रहा है। जैसे वह सिर्फ चोरी की तीव्र इच्छा से भरा, बिना दिल-दिमाग वाला कोई चाबीवाला खिलौना नहीं, एक इंसान है जो खुद को व्यक्त कर रहा है। अब तक मैं बहुत बार चोरी और चोर के बारे में सोच चुका था लेकिन ऐसा पहली बार लग रहा था। शायद बचपन से दिमाग में यही छवि है कि चोर, डाकू, यहाँ तक कि पुलिस और ट्रक ड्राइवर भी इंसान नहीं कोई अलग ही प्राणी हैं (पुलिस वाले तो मेरे दिमाग में अभी भी अलग ही प्राणी हैं।)। यह जानते हुए भी कि बिना वर्दी के वे मुझ जैसे ही साधारण दिखेंगे, मैं उनके सामने आने से ही डरता हूँ। गलती मेरी है लेकिन क्या करूँ?)।

ऐसा ही कुछ चोर के साथ भी था। पर, उस दिन मेरे दिमाग में चोर सिर्फ एक धारणा न रहकर मूर्त रूप में आ गया। और इसी के साथ एक आइडिया भी आ गया।

अगली सुबह होने से पहले ही मैंने एक सफेद कागज़ पर साफ बड़े शब्दों में लिखा "चोरी करना पाप है – महात्मा गाँधी" और दरवाज़े के बाहर चिपका दिया। गाँधी जी का नाम मैंने जानबूझकर जोड़ा था। चोर को एक अच्छा इंसान मानते हुए जिसे गाँधीजी के नाम की दुहाई दी जा सकती हो। (ध्यान दें कि उस वक्त तक *लगे रहो* ी



*मुन्नाभाई* नाम की हिंदी फिल्म नहीं आई थी जिसमें ऐसे काम को "गाँधीगिरी" कहा गया है।) खैर, कुछ दोस्तों और सोसायटी वालों ने आइडिए की तारीफ की लेकिन चोर पर कोई खास असर नहीं हुआ। बहुत सफाई से, अब भी, रह-रहकर *मिड*-डे गायब होता रहा। इस बीच एक दिन तो आहट होने पर मैंने एक दूधवाले को धर लिया, और उस पर इल्ज़ाम लगाने की हद तक आ गया। उसका कहना था कि वो तो गलती से इस मंज़िल पर आ गया था और अँग्रेज़ी अखबार वो क्यूँ चुराने लगा? बात में दम था। और फिर मैंने उसे रंगे हाथों तो पकड़ा नहीं था जो कुछ कह सकूँ। इसलिए उससे माफी माँगी और जाने दिया।

अब तक मैं हताश हो चुका था। कुछ तो जुगत लगानी ही पड़ेगी, यह सोचकर आराम से प्लान बनाने बैठा। सबसे पहले तो यह सवाल आया कि चोर को पता कैसे चलता है कि मैं जग गया हूँ? क्या आसपास की कोई खिड़की से देख लेता है? वैसे बम्बई में यह मुश्किल नहीं – मेरी खिड़की से हर दिशा में करीबन बीस-एक खिड़कियाँ तो दिखती ही हैं। तभी, एक बात समझ आई! मैं सोता तो हूँ खिड़की बन्द कर के। मच्छरों से मेरी पुरानी दुश्मनी है, लेकिन सुबह उठते ही सबसे पहले खिड़की खोलता हूँ। अखबार की तरफ जाने से भी पहले। वाह! यह तो आसान था! दूसरे माले की मेरी खिड़की नीचे दूर तक दिखती है। कोई भी बिल्डिंग के बाहर से ही बता सकता है कि मैं जग गया हूँ या नहीं। इस शुरुआती सफलता से मुझे थोड़ी खुशी हुई। लगा कि कल सवेरे तक तो चोर को पकड़ ही लूँगा। लेकिन इस बार मैं पक्का प्लान बनाना चाहता था – एकदम रंगे हाथ पकड़ना! जिस वक्त चोर के हाथ में दोनों अखबार हों, और उसे पूरी निश्चिन्तता हो कि आज भी वही दुनिया का शहंशाह है – ठीक उस वक्त उसकी बौखलाई शक्ल देखना। (बिहार में इसे "भकुआई" शक्ल कहते हैं। क्या खूब शब्द है!)

थोड़ा दिमाग लगाने पर एक रास्ता सूझ ही गया। मैंने अठन्नी और एक रुपए के चार-पाँच सिक्के कुण्डी में फँसे अखबार में डाले और फिर अखबार को बाहर खींच लिया। जैसे ही अखबार खुला, सिक्के खनखना कर ज़मीन पर गिरे। मैं अपने प्लान पर खुद ही फिदा हो गया। अब बस अगली सुबह का इन्तज़ार था।

चित्र : दिलीप चिंचालकर

सुबह हुई। अलार्म की बदौलत में जल्दी उठ गया। अखबार आने से भी पहले। खिड़की नहीं खोली ताकि चोर को यही लगे कि मैं सो रहा हूँ। जैसे ही अखबार आया, चुपके से बाहर निकलकर उसमें सिक्के डाल दिए और फिर अन्दर दरवाज़े से सटकर बैठ गया। हर आहट पर मेरा दिल ज़ोर से धड़क जाता। इतने दिनों का इन्तज़ार आज खत्म होने वाला था – शायद। मैं सोचने लगा कि चोर कौन हो सकता है? क्या कोई ऐसा जिसे मैं पहले से जानता हूँ? मैं उससे कैसे बात करूँगा? बदतमीज़ी से या इज़्ज़त से? अगर कोई बहुत ही बूढ़ा आदमी हुआ तो? या कोई बहुत ही गुण्डा टाइप जो उल्टा मुझ पर ही चढ़ बैठे? क्या साथ में एक डण्डा भी रख लेना चाहिए? फिर मैं चाहने लगा कि चोर आए ही नहीं। कम से कम मुझे एक अनजाने इंसान का सामना तो नहीं करना पड़ेगा। वो भी ऐसे वक्त में जब वो सबसे कमज़ोर होगा और मैं सबसे ताकतवर। सोचते-सोचते एक घण्टा बीत गया। चोर नहीं आया।

अगला दिन भी इन्तज़ार में बीता। हर आहट पर दिल के उछलने-सी हरकत और नतीजा जीरो बटा सन्नाटा। तीसरे दिन मैंने सोच लिया कि आज भी नहीं आया तो मैं मान लूँगा कि चोर ने मुझे ये सिक्के वाला नाटक करते शाम में ही देख लिया है और वो कहीं कोने से, मेरी परेशानी देखकर हँस रहा है। लेकिन दुनिया उतनी बुरी नहीं जितनी मुझे लगने लगी थी। तीसरे दिन, करीबन छह बजकर पच्चीस मिनट पर सिक्के गिरे। खन्न से! एक पल को मैं जम गया।

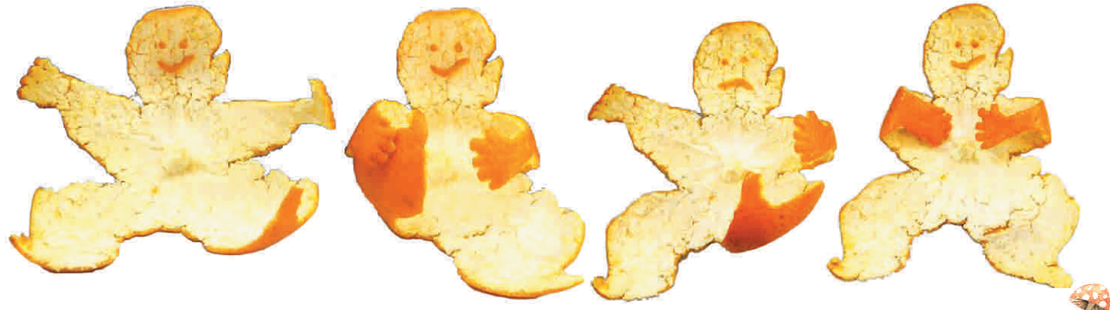

दरवाज़ा तक नहीं खोल पाया। लेकिन अगले ही पल दिमाग ना सही, हाथ तो ज़िंदा हो ही गए और एक झटके में दरवाज़ा खुल गया। सामने चोर खड़ा था – बिलकुल भकुआया हुआ, अपनी जगह पर जमा हुआ – दोनों हाथों में एक-एक अखबार लिए। लुढ़कते, डूबती-सी आवाज़ करते सिक्कों को देखते हुए।

शायद उसे यकीन नहीं हो रहा था कि करीबन छह महीने से चल रहा खेल खत्म हो गया था। और ना ही मुझे यकीन हो रहा था क्योंकि मेरे सामने एक 10-12 साल की लड़की खड़ी थी। स्कूल की युनिफॉर्म पहने। गले में पहचानपत्र और कँधे पर भारी बस्ता टाँगे। एक भोली-सी, छुटकी-सी लड़की। मैंने तेज़ी से उसके गले से उसका आई कार्ड निकाला और पूछा, "तो तुम चुराती थी पेपर?" वो एकदम-से रुआँसी हो गई और बोली, "पेपर? चोरी? नहीं, बिलकुल नहीं! मैं तो... आपका ये अखबार गिरा हुआ था उसे उठाकर रख रही थी।" अब मुझे गुस्सा आ गया। रंगे हाथों पकड़े जाने पर भी "चोर" हार नहीं मान रहा था। मैंने उसे थोड़ा डर दिखाया और कहा, "ठीक है। तुम नहीं चुराती थी तो जाओ। अब यह आई कार्ड अपने स्कूल के प्रिंसिपल से वापस लेना।" वो और ज़्यादा बौखला गई और तुरन्त माफी माँगने लगी। "मैं आपके सारे पैसे लौटा दूँगी। पक्का!" मुझे उसकी बातों में हिन्दी फिल्मों का साफ असर दिखा। पैसे ही सब कुछ हैं!

चित्र : अतनु राय

इसके बाद जो हुआ वह उतना मज़ेदार नहीं है जितना यहाँ तक पहुँचने का सफर। बहुत जल्दी से बस यही बता देता हूँ कि उसके बाद मैंने उससे थोड़े सवाल पूछे जिनके जवाब उसने ईमानदारी से दिए। मैंने उसे जाने दिया। उसने वादा किया कि वो दुबारा ऐसा नहीं करेगी। शाम को उसकी माँ से मिला। (उसकी माँ भी उसके ही स्कूल में पढ़ाती थीं। उन्हें बड़ा ताज्जुब हुआ और दुख भी।) सुबह उस बच्ची से बात कर के पता चला कि मेरा शक सही था। उसे नीचे से खिड़की देखकर ही पता लग जाता था कि मैं जगा हूँ या नहीं। हालाँकि अक्सर उसने मेरे जगे होने के बावजूद पेपर निकाला। उसने ऐसा करने की किसी से शर्त नहीं लगाई थी और ना ही उसकी इस चोरी का दुनिया में और किसी को पता था। वो मेरी बिल्डिंग से काफी दूर एक बिल्डिंग में रहती थी और हर रोज़ स्कूल जाने से पहले टहलती हुई इधर चली आती थी। मेरी बिल्डिंग उसके स्कूल के रास्ते में पड़ती थी। उसे *मिड-डे* का बड़ा चस्का था लेकिन बड़ों का अखबार होने के कारण उसे यह ना पढ़ने दिया जाता था और ना ही वो उसके लिए पैसे माँग सकती थी। हर रोज़ चुराकर स्कूल ले जाती और अपनी दोस्तों को दिखाकर रौब जमाती थी। वापस आते-आते किसी एक दोस्त को थमा आती। सुबह चोरी की, शाम तक माल ठिकाने भी लगा दिया! और हाँ, दरवाज़े से चुपचाप पेपर निकालने की घर पर अकेले में खूब प्रैक्टिस भी की थी।

इतनी सब बातें सुनकर मैं तो धन्य हो गया। खोदा पहाड़ निकली चुहिया तो नहीं कहूँगा क्योंकि यहाँ जो निकला वो काफी सवाल भी दे गया। सज़ा देने का न तो मन किया और न ही समझ आया कि क्या कहूँ। बस उस दिन के बाद से सचमुच में चैन की नींद सोने लगा। हालाँकि बहुत दिनों बाद ख्याल आया कि एक ज़रूरी सवाल नहीं पूछा उस लड़की से। वो यह कि जब मैंने दरवाज़े पर गाँधीजी के नाम से वाक्य लगाया तो उसने क्या सोचा? क्या उसे एक पल के लिए भी लगा कि जैसे दरवाज़े के उस पार वो एक इंसान है, दरवाज़े के इस पार भी कोई होगा? लेकिन फिर, वो तो दस-बाहर साल की ही थी। यह सब उम्मीद कर के फिर से मैं अपने बड़े होने की पोल खोल रहा हूँ। इसलिए यहीं पर किस्सा खतम।